कैसे डिस्टोपियन युग में जी रहे हैं हम?

हम नैतिक डायस्टोपिया या डिस्टोपिया के युग में जी रहे हैं। यह एक ऐसा आदर्श-विहीन युग है, जहाँ पुरूष और महिलाओं का मानवीय होना मुश्किल है, जबकि सरकार का पक्षपात और अन्यायपूर्ण होना सुविधाजनक हो चला है। नेतागण अपने संकल्पों पर प्रतिबद्ध नहीं हैं, और उनसे ऐसी प्रतिबद्धता की उम्मीद भी नहीं की जाती है। सरकार ने पूरे गर्व और बेबाकी के साथ अपना बहुसंख्यकवादी रूप धारण कर रखा है।

ऐसा प्रतीत होता है कि स्मारकों, कार्यालयों और घरों का मूल्यांकन उनके निर्माताओं और रहने वालों के विश्वास या राजनीतिक झुकाव के आधार पर किया जाता है। अगर आप सरकारी या गैर-सरकारी लोगों के घृणा फैलाने वाले कार्यों पर उंगली उठाते हैं, तो आप सबसे ज्यादा असुरक्षित हो जाते हैं।

अनुरूपतावाद आज आदर्श है। मानवतावाद, न्याय और स्वतंत्रता सभी को नष्ट कर दिया गया है।

एक परिवर्तित मूल्य की स्थापना -

सांप्रदायिक सद्भाव के मूल्य बदल गए हैं। साझा जीवन अब बहुतों के लिए पोषित आदर्श नहीं रह गया है। नूह के अनीस ने भीड़ से बचाने के लिए तीन हिंदुओं को अपने घर में शरण दी। लेकिन अगले ही दिन उसके घर पर बुल्डोजर चला दिया गया। अंततः न्यायालय के आदेश से यह प्रक्रिया रोकी जा सकी है।

नैतिक तंतु लंबे समय से क्षतिग्रस्त होते रहे हैं। लेकिन अब उनके चिथड़े उड़ चुके हैं। मणिपुर में महिलाओं के सार्वजनिक अपमान को कैसे समझाया जा सकता है? महिलाओं को उत्तेजित भीड़ को सौंप देने की किसी घटना को कैसे उचित ठहराया जा सकता है? कठुआ में आठ वर्ष की बच्ची से बलात्कार के आरोपी के समर्थन में निकलने वाले जुलूस को कैसे सही कहा जा सकता है? आज हम एक राजा या आक्रमणकारी को उस अपमान के लिए जिम्मेदार ठहराना चाहते हैं, जो उसने संभवतः 400 या 1000 साल पहले किया था। लेकिन जब हरियाणा या मणिपुर में पीड़ियों के लिए न्याय मांगने की बात

आती है, तो हमारे होंठ ही नहीं खुलते हैं। हम आक्रमणकारियों के पूजा-स्थलों को तोड़ने (कुछ काल्पनिक और कुछ वास्तविक) की बात करते हैं। उनकी ऐतिहासिक गलतियों को सुधारने की कोशिश भी करते हैं। इस पर भी हम चुप रहते हैं, क्योंकि मजार या मस्जिद है क्या? एक ढांचा ही तो है। बाबरी मस्जिद के संदर्भ में आडवानी जी ने यही कहा था। अब ज्ञानवापी के लिए योगीजी का यही कहना है।

कहीं कोई पछतावा, कोई शर्म नहीं रह गई है। इतिहास अपने आपको दोहरा रहा है। हम बस दर्शक बने हुए है। यह सचमुच नैतिक कमजोरियों का समय है। प्रत्यके राष्ट्र में विक्षिप्तता के क्षण होते हैं। हमारे मामले में यह सामूहिक रूप से भूलने की बीमारी जैसा है। हम सब देखते हैं, और भूल जाते हैं। हम सब पढ़ते भी हैं, लेकिन आगे बढ़ जाते हैं। चाहे भीड़ किसी की हत्या कर दे, किसी का घर या दुकान उजाड़ दी जाए, किसी महिला का उत्पीड़न होता रहे; हमारी याददाश्त तो छलनी की तरह लगती है। उसमें हम बहुत थोड़ा सा ही रखते हैं। क्या हम रोज-रोज के घिनौने तमाशों से थक गए हैं? शायद हाँ। क्या हम अपने रोजमर्रा में इतने उलझ गए हैं कि और किसी की परवाह ही नहीं करते? कारण चाहे कुछ भी हो, लेकिन यह असहिष्णुता को बढावा तो दे ही रहा है।

शुष्क भावनाएं -

आज अन्याय करने वालों को त्रिशूल, हथौडे और गैंती वाली भीड़ की जरूरत नहीं है। अब तो बस बुल्डोजर को काम पर लगाना होता है, जो किसी व्यक्ति की जीवन भर की कमाई की छोटी सी दुकान या कंक्रीट के छोटे से ढांचे को मिट्टी में मिला देता है। कल जो भीड़ का हिस्सा होता था, वह बस सेल्फी लेता है, वीडियो बनाता है, और सोशल मीडिया पर पोस्ट करता है। वह जिंदगियों को बचाने की कोशिश नहीं करता है। इस बीच मीडिया का एक वर्ग, मलबे के बढ़ते ढेर को तत्काल सबूत के रूप में पेश कर रहा होता है। शायद विसंगति 'नए भारत' में एक अनुभव है।

'द हिंदू' में प्रकाशित जिया सलाम के लेख पर आधारित। 5 सितंबर, 2023